

निजी क्षेत्र में सूचना का अधिकार की आवश्यकता

डॉ. गोपाल सिंह
सह-आचार्य (राजनीति विज्ञान)
शहीद कैप्टन रिपुदमनसिंह
राजकीय महाविद्यालय, सवाई माधोपुर

विश्व के जिन लोकतांत्रिक देशों में सूचना का अधिकार जनता को प्रदान किया गया है, उसमें शासकीय एवं अर्द्ध-शासकीय सरकारी क्रियाकलापों को ही सम्मिलित किया गया है। गैर-शासकीय जगत अर्थात् निजी कारपोरेट जगत को इससे लगीग पृथक ही रखा गया है। फलस्वरूप लोकतंत्र के शासनात्मक स्वरूप में ही सूचना का अधिकार का प्रयोग सम्भव है। जबकि आर्थिक उदारीकरण के बदलते युग, जहाँ व्यक्ति के जीवन के अधिकांश भाग पर निजी जगत का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है, में गैर-शासकीय क्षेत्र को सूचना के अधिकार से पृथक रखना सूचना के अधिकार को सीमित कर देता है।

भारत भी अपवाद नहीं है। भारत में भी विभिन्न राज्यों द्वारा स्वीकृत सूचना का अधिकार अधिनियम निजी जगत से स्वयं को पृथक रखता है। किन्तु समय-समय पर यह सार्वजनिक बहस का मुद्दा बना रखा है कि लोकतंत्र के वास्तविक स्वरूप की गरिमा को बनाने के लिए आवश्यक होगा कि निजी जगत को भी सूचना के अधिकार में सम्मिलित किया जाए। भारत में केन्द्र सरकार द्वारा एच.डी. शौरी के नेतृत्व में सूचना की स्वतंत्रता विधेयक का जो प्रारूप तैयार किया गया, उसमें निजी क्षेत्र को इस कानून के दायरे से बहार रखा दिया गया। किन्तु भारतीय प्रेस परिषद के प्रतिमान विधेयक में इस संदर्भ में प्रावधान किया गया है।

गैर-शासकीय अर्थात् कारपोरेट जगत का विस्तार, जीवन के हर क्षेत्र में उसकी निर्णायक भूमिका और समूचे भूमण्डल पर उसका दिनों दिन बढ़ता वर्चस्व बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की एक महत्वपूर्ण परिघटना रही है।

निजी क्षेत्र में सूचना के अधिकार की आवश्यकता के मुख्य प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं—

- जनता, उपभोक्ता और श्रमिकों के प्रति जवाबदेही अब यह लगभग माना जा चुका है कि निजी क्षेत्र के क्रियाकलापों को गोपनीय रखने का सीधा असर आम जन और उपभोक्ता पर पड़ता है। ऐसे ढेर सारे उद्योगों पर निजी क्षेत्र का कब्जा है, जहाँ ऐसी चीजें बनती हैं जिनका रिश्ता सीधे तौर पर लोगों के जीवन, पर्यावरण संतुलन और प्रदूषण से है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उनकी सहयोगी छोटी-बड़ी कम्पनियों से जुड़े कारखानों विश्व के ग्रीनहाउस गैर उत्पादन

में करीब आधे से अधिक योगदान है। विश्व के तेल उत्पादन, सफाई एवं बिक्री 50 फीसदी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कब्जे में है और इसी अनुपात में गैस व कोयले-पलोरो कार्बन (सी.एफ . सी.) तथा संबंधित मिश्रणों का उत्पादन व इस्तेमाल नियंत्रण भी पूरी तरह निजी क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ही नियंत्रण में है। खतरनाक कीटनाशकों के व्यापार का नब्बे प्रतिशत 20 बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में है। विश्व की अधिकांश क्लोरीन का उत्पादन भी बहुराष्ट्रीय और उनकी सहयोगी कम्पनियां ही रहती है। क्लोरीन से अनेक जहरीले रसायन, मसलन, पी.सी.बी. डी.डी.टी., डायक्सीन, फ्लरांस, क्लोरीनयुक्त घोल और हजारों की तादात में आरगेनोक्लोरीन सम्मिश्रण बनते हैं। ये जहरीले रसायन लोगों के स्वास्थ्य पर अनेक बुरे असर डालते हैं। पर्यावरण को प्रदूषण करने के साथ-साथ लोगों को मौत के मुँह में ढकेलने के लिए ये रसायन पर्याप्त है। अभी हाल में 'टाटा एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट' ने इस संदर्भ में रिपोर्ट प्रकाशित की है। इस रिपोर्ट के मुताबिक—“आद्योगिक इकाइयों से निकलने वाला धुआ तथा राख वायु प्रदूषण को बढ़ाने में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। अनुमानतः भारत में प्रतिवर्ष करीब 450 लाट टन औद्योगिक राख हवा में मिलती है, जिसे हम सांस के जरिये अपने शरीर के अन्दर ले जाते हैं। विभिन्न मेडिकल स्रोतों से मिली जानकारी के आधार पर 1997 में वायु प्रदूषण की वजह से मरने वाले की संख्या करीब 25 लाख थी।” यानी, अकेले भारत में 25 लाख लोग सिर्फ एक वर्ष भीतर मौत के मुँह में चले गये।

अगर भारत का संविधान लोगों को जीने का अधिकार देता है तो फिर उसे ऐसी सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार भी देना चाहिए, जो जीने के लिए आवश्यक है। मसलन, किस कारखाने से जहरीली गैस निकलती है या निकलने की आशंका है? कौन सा कारखाना पर्यावरण को प्रदूषित करता है और किसी की जान भी ले सकता है? इन सबसे बचने का आखिर उपाय क्या है? ऐसी या इन सारी सूचनाएं जनता को क्यों नहीं दी जानी चाहिए?

निजी कम्पनियों द्वारा सूचनाएं छिपा लेने के कारण जान-माल की भारी क्षति भी हो सकती है— इसका कम से कम ज्वलंत उदाहरण तो हमारे देश में भी मौजूद है और वह है दिसम्बर 1984 की भोपाल गैस त्रासदी। यह सर्वाविदित तथ्य है कि इस हादसे में हजारों लोगों की मौत हुई थी आज भी अधिसंख्य लोग उस गैस कांड के कुप्रभाव को झेल रहे हैं। विकलांगता और नाना प्रकार की शारीरिक बीमारियों से भोपाल का वह इलाका अभी मुक्त नहीं हुआ है। जब यह हादसा हुआ था, उस समय ही यह तथ्य प्रकाश में आया था कि यूनियन कारबाइड संयंत्र के आस-पास की बस्तियों में यदि कुछ जरूरी जानकारियों पहुँचा दी गयी होती, तो सैकड़ों लोगों की जान बचायी जा सकती थी। 'चेहरे को गीले रुमाल से ढंकने से मौत नहीं होगी और

जहरीली गैस का असर कम हो सकता है' जैसी सामान्य जानकारी भी लोगों को नहीं मिल सकी थी। यही नहीं, कुछ 'एंटीडॉट' दवाओं के बारे में कम्पनी ने जानबूझकर सूचनाएं छिपाने का काम किया था। इस त्रासदी के बाद की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं है। पुनर्वास और राहत कार्यक्रमों में घपले एवं अफरातफरी को देखकर भी पीड़ित लोग मूकदर्शक बने रहने के लिए अभिशप्त थे, क्योंकि सरकारी गोपनीय कानून (1923) उन्हें सही सूचना देने की मुखालफत करता है। सरकार से लेकर न्यायालय तक की सारी कार्यवाइयों पर इस कदर परदा पड़ा रहा कि जिस कम्पनी के शीर्ष अधिकारियों को जेल में होना चाहिए था वे मात्र 470 अमरीकी डॉलर का मुआवजा देकर बरी हो गये और हमारी सरकार कुछ न कर सकी।

ठीक इसी तरह उपभोक्ता सामग्रियों के बारे में अपर्याप्त जानकारियों को लेकर भी सवाल उठते रहे हैं। सुई से लेकर हवाई जहाज और नमक से लेकर अत्याधुनिक कॉस्मेटिक तक का उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है। उसे अपने द्वारा निर्मित उत्पादों के सकारात्मक पक्ष को प्रचारित करने का अधिकार तो है, लेकिन उस उत्पाद के नकारात्मक पक्ष को जानने का अधिकार उपभोक्ता को नहीं है। उपभोक्ता फोरम में अपील करने के लिए जरूरी सूचनाएं भी उपभोक्ता को प्राप्त नहीं होती। उपभोक्ता सामग्रियों के अधिकांश पैकेटों पर जरूरी सूचनाएं अंग्रेजी में लिखी होती है। उनमें से अधिकांश सूचनाएं तो इतनी तकनीक किस्म की होती है कि उन्हें समझ पाना अंग्रेजी जानने वालों के लिए भी एक कठिन काम है। अगर उत्पाद के बारे में कोई उपभोक्ता विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहे तो वह न तो सरकार से प्राप्त कर सकता है और न ही उस कंपनी विशेष से। उसके पास ऐसे उत्पादों का सेवन करने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता। इस संदर्भ में विश्व की सबसे बड़ी पैकेट बंद पदार्थ निर्माता कंपनी 'नेस्ले' का एक उदाहरण मौजूद है, जिसके खिलाफ एक मामला न्यायालय में भी चल रहा है। 'नेस्ले' का विश्व में लगभग 50 प्रतिशत शिशु आहार-व्यापार पर कब्जा है। एक अन्य कंपनी के साथ मिलकर 'नेस्ले' ने भारत के 85 प्रतिशत बाजार पर नियंत्रण कर लिया है। 'यूनिसेफ' से लेकर हर बड़ी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ यह मानती है कि माँ के दूध के बजाय डिब्बाबंद दूध पीने वाले बच्चे कुपोषण का शिकार हो जाते हैं। 'यूनिसेफ' के मुताबिक विश्व में प्रतिवर्ष करीब दस लाख बच्चे सिर्फ इसलिए मर जाते हैं क्योंकि उन्हें माँ का दूध नहीं मिलता। बावजूद इसके 'नेस्ले' का दूध धड़ल्ले से बिकता है और उसके डिब्बों पर भारत सरकार द्वारा तय की गई अनिवार्य सूचनाएं निहायत महीन अंग्रेजी अक्षरों में लिखी होती है, जिन्हें समझ पाना हिन्दुस्तान की 70 प्रतिशत अनपढ़ माताओं के लिए असंभव हैं।

भारतीय दवा उद्योग की कहानी तो और भी हृदय विदारक है। यूं तो हमारे देश में करीब अस्सी हजार ब्रांड नामों की दवाएं मौजूद हैं, लेकिन भारतीय दवा उद्योग पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ही इजारेदारी है। आज हमारे देश में सैकड़ों ऐसी दवाएं बेची जा रही हैं, जिन्हें कई देशों ने या तो प्रतिबंधित कर दिया है या प्रतिबंधित किये जाने योग्य माना है। पिछले दिनों 'वालंटरी हैल्थ एसोसिएशन ऑफ इण्डिया' (वी हाई) नामक एक संगठन ने ऐसी खतरनाम दवाओं और उनके मिश्रण की एक सूची प्रकाशित की थी। सर्वाधिक आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि जो दवाएं रोगों के इलाज में बिल्कुल नाकाम और अक्षम हैं, उनकी बिक्री करोड़ों में है। 'ऑपरेशन रिसर्च ग्रुप' (ओ.आर.जी.) भारत का एक नामी अनुसंधान संस्थान है, जिसने 1993 में भारत में दवाओं की बिक्री के संदर्भ में व्यापक सर्वेक्षण किया था। 'बेरॉलगन' पेट दर्द की, 'इन्ट्रोक्विनॉल' दस्त की और 'नवाल्जिन' सामान्य दर्द निवारक दवाएं हैं। 'वी हाई' इन तीनों दवाओं को बेहद खतरनाम मानता है, जबकि ओ.आर.जी. सर्वेक्षण के मुताबिक 1992-93 में इनकी भारत में बिक्री क्रमशः 13.17 करोड़ रुपये, 8.43 करोड़ रुपये तथा 10.53 करोड़ रुपये की हुई थी। बेरॉलगन और इन्ट्रोक्विनॉल को अभी हाल में प्रतिबंधित तो कर दिया गया, लेकिन विशेषज्ञों का मानना है कि मामूली फेरबदल के साथ दूसरे नामों के जरिये ये दवाएं आज भी बन और बिक रही हैं। ठीक इसी तरह 'वी हाई' ने बीकासूल, न्यूरोबियान, कोबाडेक्स फोर्ट और पॉलिबियान को अलाभप्रद (यूजलेस) विटामिन मिश्रण बताया है, जबकि 1992-93 में इनकी बिक्री क्रमशः 23.92, 15.88 तथा 12.48 करोड़ रुपये की रही। डायरिया के समय लिया जाने वाला इलेक्ट्रॉल पाउडर, खांसी की कफ निवारण के लिए दिया जाने वाला सिरफ कारेक्स, फेंसीडील और बेनाड्रि, एंटीबायोटिक एम्पोक्सिन, कॉबीफ्लॉक, इन्टासीड, जेलुसील तथा हडडी की मजबूती के लिए दी जाने वाली दवा ऑस्टोकैल्सियम आदि को भी 'वी आई' ने या तो हानिकारक या अनुपयोगी बताया है, लेकिन इनमें से किसी की भी सालाना बिक्री दस करोड़ रुपये से कम की नहीं है। 'वी आई' द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक रोगियों को सूचना का अधिकार दिलाने के लिए लम्बे समय तक संघर्ष करने वाले विश्व प्रसिद्ध डॉ. ओले हनसोन को समर्पित है। स्वीडन के रहने वाले डॉ. हनसोन की मृत्यु 24 मई 1985 को हुई थी।

कुल मिलाकर यह कि हिन्दुस्तान में ऐसी दवाएं धड़ल्ले से बिक और खायी जा रही हैं, जिन्हें प्रतिबंधित कर दिया जाना चाहिए। आखिर इसकी जानकारी आम भारतीय को कौन देगा? किस प्लेटफार्म पर उसकी आवाज सुनी जायेगी? निजी क्षेत्र की उन कम्पनियों से, जिनका मुख्य मुनाफा कमाना है, इसकी उम्मीद की जानी चाहिए अथवा नहीं? अगर नहीं, तो फिर एक एक ऐसे तंत्र के निर्माण की पहल क्यों नहीं होनी चाहिए जो लोगों को सही जानकारी मुहैया कराने

को अपना दायित्व समझे? यहीं नहीं, ऐसी सूचनाएं भी प्रकाश में आयी हैं जिनमें पता चला है कि निजी क्षेत्र की ये दवा कम्पनियां अपनी दवाओं की विश्वसनीयता बढ़ाने के लिए 'यूनिसेफ' और 'लैन्केट' जैसी संस्थाओं का दुरुपयोग करने में भी सफल हो जाती है। जर्मनी की 'बेहरींगर नॉल' एवं इंग्लैण्ड की 'ग्लेक्सी' नामक कम्पनियों ने अपनी दवाएं क्रमशः क्लोरोफेनिकॉल-स्ट्रेप्टोमाइसीन एवं आस्टोकैल्सियम बी-12 के प्रचार के लिए इन विश्वसनीय संस्थाओं का सहारा लिया था। ऐसे में लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा और अंततः उनके जान-माल की सुरक्षा के लिए जरूरी है कि निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाया जाए, उसे सूचना के अधिकार के दायरे में लाया जाय, ताकि कोई भी व्यक्ति उनके पास जाकर जरूरी जानकारियां मांग सके और न देने पर उनके खिलाफ न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकें।

मजदूरों और कारखाने के कर्मचारियों के प्रति जवाबदेही इस समूचे प्रकरण का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। जिस कारखाने के आस-पास रहने वाले लोगों पर मौत का साया मंडरा रहा हो, उस कारखाने के मजदूरों की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। अधिकांश कारखानों में न तो श्रम कानूनों का पालन किया जाता है और न ही मालिकान उन सूचनाओं को मजदूरों तक पहुंचाते हैं, जिनसे उनका जीवन जुड़ा है। दरअसल, ऐसी सूचनाएं मुहैया कराने का सीधा रिश्ता उस समस्या के निदान से भी है। अब यह स्थापित हो चुका है कि कारखाने में काम करने वालों को ऐसी परिस्थितियों में रहना पड़ता है। जहां कैंसर, टी.बी. से लेकर सिलिकोसिस, विसिनोकोसिस एवं न्यूमोकोनियोसिस जैसी जानलेवा बीमारियां होगी ही। इससे मुक्ति का एक तरीका वह है, जो सर्वोच्च न्यायालय ने अख्तियार किया और दिल्ली स्थित नौ हजार ऐसे कारखानों को बंद करने का आदेश जारी कर दिया, जो प्रदूषण फैला रहे थे। सवा उद्योगों की बंदी का नहीं, बल्कि कार्यस्थल के लिए कए ऐसी संस्कृति के विकास का है, जो गोपनीयता की बजाय पारदर्शिता की पक्षधर हो। ऐसा तभी हो सकता है जब मजदूरों को अपनी कंपनी के क्रियाकलापों, उत्पादित सामग्रियों और उनसे फैलने वाले रोगों के निवारण की सही-सही जानकारियां हमेशा प्राप्त होती रहे। जाहिर है कि निजी क्षेत्र को सूचना के अधिकार के दायरे में ले जाना इसकी पहली और अनिवार्य शर्त होगी।

स्टेकहोल्डर्स बनाम स्टॉकहोल्डर्स :- अविकसित या विकासशील देशों में ही नहीं, बल्कि विकसित देशों में भी खुद कारपोरेट जगत के भीतर भी एक भिन्न स्तर पर यह बहस चल रही है। हाल के वर्षों में व्यावसायिक नीतिशास्त्र की भाषा में 'स्टेकहोल्डर' नाम का एक शब्द बेहद चर्चित हुआ है। लम्बे समय तक 'स्टॉकहोल्डर्स' के प्रति अपनी जिम्मेदारी और जवाबदेही समझने वाला कारपोरेट जगत कहने लगा है कि अब 'स्टेकहोल्डर्स' के प्रति जिम्मेदारियों का निर्वाह ही

हमारा प्राथमिक दायित्व होना चाहिए। 'स्टेकहोल्डर्स' बनाम 'स्टॉकहोल्डर्स' की यह बहस 1990 में तब शुरू हुई, जब व्यावसायिक जगत के जाने-माने दो बुद्धिजीवियों—एन्थोनी एफ बुओनो और लारेंस टी. निकोल्स ने एक लेख में 'स्टेकहोल्डर्स' की समूची अवधारणा को कॉरपोरेट जगत के अस्तित्व के लिए जरूरी बताया। इसके लिए इस लेख में मुख्य रूप से चार तर्क दिये गये। इन विद्वानों का पहला तर्क था कि समकालीन सामाजिक समस्याओं एवं आर्थिक संव्यवहार की उलझनों का शीघ्रतिशीघ्र समाधान करने में 'स्टॉकहोल्डर्स' नाम का पुराना मॉडल असफल साबित हो चुका है। दूसरा, अपनी जिम्मेदारियों की व्यापकता का अहसास करना व्यावसायिक जगत के दीर्घकालिक हित में है। यदि कारपोरेट जगत के लोग अपने द्वारा किये गये कार्यों के प्रति खुद जवाबदेह नहीं होंगे तो आने वाले दिनों में 'स्टेकहोल्डर्स' का उनपर दबाव बढ़ेगा और इस दबाव के चलते सरकारों की ओर से उन पर नाना प्रकार की जिम्मेदारियां थोपी जाएंगी। तीसरा, आज के प्रतिस्पर्धात्मक आर्थिक-सामाजिक माहौल में किसी 'स्टेकहोल्डर' को नकार पाना लगभग असम्भव है। चौथा, इसलिए क्योंकि 'स्टॉकहोल्डर्स' नामक अवधारणा में केवल कम्पनी विशेष के शेयरधारक ही आते हैं, जबकि स्टेकहोल्डर्स में वे सारे श्रमिक, उपभोक्ता और आम जन भी आते हैं जिनका व्यवसाय जगत में किसी न किसी न किसी रूप में एक अटूट रिश्ता होता है। इस रिश्ते को स्थापित किये वगैर अब कॉरपोरेट जगत का विस्तार नामुमकिन है। बहरहाल, यह बहस कॉरपोरेट जगत के अन्दर की है, जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी 1994 की अपनी विशेष वार्षिक रिपोर्ट में जायज ठहराया है। यह बात दीगर है कि अभी तक उसने इस संदर्भ में कोई ठोस उपाय नहीं किये हैं। दिलचस्प तो यह है कि जिस रिपोर्ट में उसने यह सवाल उठाया है, उसी रिपोर्ट में करीब दस शीर्ष बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सामाजिक प्रतिबद्धता का गुणगान करने वाले वे प्रपत्र भी प्रकाशित किये गये हैं, जिन्हें खुद इन कम्पनियों ने तैयार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्रसंघ कॉरपोरेट क्षेत्र के लिए जिस सामाजिक भूमिका का निर्धारण करना चाहता है, उसका यह क्षेत्र पहले से ही निर्वहन कर रहा है। इसे हास्यास्पद के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

➤ आंतरिक लोकतंत्र और शेयरधारकों के प्रति जवाबदेही :

हमारे देश में जो स्थिति स्वास्थ्य चेतना और उपभोक्ता जागरूकता की है उससे भी बदतर स्थिति शेयर बाजार की है। शेयर बाजार की समूची कार्यप्रणाली एक ऐसे रहस्यलोक का निर्माण करती है जिसे समझ पाना आम शेयर धारक के लिए असंभव-सा है। इस रहस्यलोक में सूचनाओं का महत्व इतना है कि जिनके पास सही सूचनाएं हैं, वे रातोंरात करोड़ों के मालिक बन सकते हैं और जिनके पास नहीं है, वे रातोंरात अपनी करोड़ों की पूंजी गवां भी सकते हैं। हर्षद

मेहता प्रकरण इसका ज्वलंत उदाहरण है। एक नहीं, हजारों मामले गिनाये जा सकते हैं जिनमें शेयर बाजार का यह रहस्यलोक कम्पनियों के अंदरूनी लोकतंत्र को भी नष्ट करता है। साठ के दशक में डालमिया-जैन मामले में विवियन बोस कमीशन ने फर्जी निदेशकों और बेनामी शेयरधारकों का पर्दाफाश किया था। अस्सी के दशक की शुरुआत में सुप्रसिद्ध अनिवासी भारतीय स्वराज पॉल द्वारा डीसीएम एवं स्कॉट्स के अधिग्रहण प्रकरण में भी वित्तीय संस्थानों की भूमिका तथा पारिवारिक प्रबंधन से जुड़े कई मामले प्रकाश में आये थे। कॉरपोरेट जगत में अंदरूनी लोकतंत्र का सवाल अभी कुछ वर्ष पहले तब भी उठा था, जब लार्सन एंड टुब्रो नामक कम्पनी का रिलायंस ने अधिग्रहण किया था। आई.टी.सी. शॉ वालेस प्रकरण और कल्याण ग्रुप मामले में भी यह प्रश्न उठा था। आर.बी. घोटाले में, जिसमें जनता द्वारा जमा की करोड़ों की धनराशि उक्त कम्पनी के मालिकान लेकर भाग गये थे, तो थोक के भाव रजिस्टर्ड हो रही वित्तीय कम्पनियों की असलियत भी सामने आ गयी थी। गिनाने के लिए सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन शेयर बाजार के इस रहस्यलोक को समझने के लिए जिसकी बुनियाद ही गोपनीयता पर टिकी है, अभी हाल के ताजा दो-तीन प्रकरणों का जिक्र करना प्रासंगिक होगा। चूंकि इन प्रकरणों में शेयर बाजार की पारदर्शिता का सवाल खुद 'सेबी' ने भी उठाया है, इसलिए ये मामले महत्वपूर्ण हैं।

पहला मामला उपभोक्ता क्षेत्र की शीर्षस्थ कम्पनी 'हिन्दुस्तान लीवर' का है। दरअसल, नितांत गोपनीय तरीके से हिन्दुस्तान लीवर और ब्रुकबैंड कम्पनी का अप्रैल 1996 में विलय हो गया। यह विलय विश्व की सुप्रसिद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनी 'यूनी लीवर' के इशारे पर हुआ, क्योंकि इस कम्पनी की हिन्दुस्तान लीवर में 51 प्रतिशत और ब्रुकबैंड में 50.2 प्रतिशत की इक्विटी हिस्सेदारी थी। ब्रुकबैंड के अधिकांश शेयर यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (यू.टी.आई) के पास थे। ब्रुकबैंड में भी यूनी लीवर की इक्विटी हिस्सेदारी 51 प्रतिशत कायम रहे, इसके लिए विलय की घोषणा के कुछ रोज पहले 25 मार्च 1996 को हिन्दुस्तान लीवर ने यू.टी.आई. से ब्रुकबैंड के 8 लाख शेयर खरीद लिये। विलय की घोषणा 19 अप्रैल 1996 को की गयी। इस विलय की जानकारी न तो यू.टी.आई. को थी और न ही जानकारी देना हिन्दुस्तान लीवर ने उचित समझा। विलय की घोषणा के तत्काल बाद ब्रुकबैंड के शेयर उछलकर 405 रुपये पर जा पहुंचे, जबकि यू.टी.आई. से ये शेयर हिन्दुस्तान लीवर ने 350.35 रुपये प्रति शेयर के हिसाब से खरीदे थे। यह मामला 'सेबी' (सिक्वोरिटी एंड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इण्डिया) के समक्ष पहुंचा। 'सेबी' ने इसे 'इनसाइडर ट्रेडिंग' का मामला माना। अर्थशास्त्र की भाषा में जिसे हम 'इनसाइडर ट्रेडिंग' कहते हैं, वह मूलतः सूचनाएं होने या न होने का खेल है। सेबी रेग्यूलेशंस 2 (ई) के उल्लंघन के आरोप

में 'सेबी' ने एक वर्ष तक जांच करने के बाद हिन्दुस्तान लीवर के पांच निदेशकों पर आपराधिक मुकदमा चलाने का फैसला किया, साथ ही हिन्दुस्तान लीवर को निर्देश दिया कि वह यू.टी.आई. को बतौर 3.04 करोड़ रुपये का भुगतान करें। 2 अप्रैल 1998 से इस मामले पर वित्त मंत्रालय के अपीलीय प्राधिकरण में सुनवाई शुरू हुई। 14 जुलाई 1998 को वित्त मंत्रालय ने 'सेबी' के फैसले को उलट दिया और हिन्दुस्तान लीवर को 'इनसाइडर ट्रेडिंग' का दोषी मानने से इंकार कर दिया। अब 'सेबी' के अधिकारी उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटा चुके हैं। उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद मामला सर्वोच्च न्यायालय में जाएगा। फैसला क्या होगा, यह तो बाद में ही पता चलेगा लेकिन इस प्रकरण से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि पूंजी बाजार में पब्लिक इश्यू जारी कर भोले-भोले निवेशकों से करोड़ों रुपये उगाहकर रातोंरात उड़नछू हो जाने वाले असंख्य छोटी-मोटी कंपनियां ही नहीं, बल्कि नामचीन कंपनियां भी अपने कामकाज में पारदर्शिता नहीं बरतती।

दूसरा तथ्य नेस्ले जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी से संबंधित है। अप्रैल 1998 में इस कंपनी ने अपने प्रबंध निदेशक डी. आर्देशीर को हटाने का निर्णय लिया था। आर्देशीर को हटाने की अफवाह उड़ गयी। इस एक छोटी सी अफवाह से सेन्सेक्स में 9 प्रतिशत की गिरावट आ गयी। 'सेबी' से पूछताछ की और जानना चाहा कि इसकी पूर्व जानकारी उसने स्टॉक एक्सचेंज को क्यों नहीं दी? दरअसल, जिसे 'सेन्सेटिव इंडेक्स' के रूप में जाना जाता है, वह इतना संवेदनशील होता है कि एक छोटी सी घटना भी उसमें भारी उलटफेर कर देने के लिए पर्याप्त होती है। पूंजी बाजार का करीब अस्सी प्रतिशत हिस्सा सेन्सेक्स में आने वाली तीस-चालीस कंपनियों का होता है। यानि ये चंद कंपनियां हमारे पूंजी बाजार के करीब अस्सी प्रतिशत हिस्से को नियंत्रित करती हैं।

तीसरा तथ्य हिन्दुस्तान के सबसे बड़े घराने रिलायंस से जुड़ा है। यूं तो शेयर बाजार की गतिविधियों से इस तथ्य का कोई सीधा रिश्ता नहीं है, लेकिन निजी क्षेत्र की पारदर्शिता से अवश्य है। बात मार्च-अप्रैल 1997 की है। रिलायंस ने अपने इतिहास में पहली बार 45 करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष निगम-कर अदा किया था। यदि न्यूनतम वैकल्पिक-कर (एम.ए.टी.) की नीति न बनी होती है तो मुमकिन था कि एक बार भी यह घराना टैक्स न देता। बिजनेस के अखबारों ने अपनी पहली खबर बनाते हुए इसे आठ कॉलम में प्रकाशित किया था। रिलायंस ने 1996-97 में कुल 1323 करोड़ रुपये का लाभ दिखाया जो 95-96 की तुलना में 18 करोड़ रुपये ज्यादा था। आखिर ऐसा क्यों हुआ? कई हजार करोड़ रुपये का व्यवसाय करने वाली और सालाना करीब दस हजार करोड़ रुपये की आमदनी करने वाली रिलायंस जैसी कंपनी आखिर अपने पच्चीस वर्षों

से भी ज्यादा के इतिहास में पहली बार प्रत्यक्ष निगम कर क्यों अदा करती है? यह जानने का हक उस आम भारतीय को दिया जाना चाहिए या नहीं, जो कुछ हजार रुपये की नौकरी करता है और प्रतिवर्ष हजारों रुपये कर के रूप में अदा करता है?

यह बहस अब निजी क्षेत्र के भीतर भी उठनी शुरू हुई है। 'सेबी' ने अभी हाल में एक कानून बनाया है जिसके मुताबिक प्रत्येक कम्पनी को अपने वित्तीय परिणामों की हर तीसरे महीने सार्वजनिक घोषणा करना अनिवार्य होगा। पारदर्शिता की दृष्टि से यह एक उपयोगी पहल है, लेकिन निजी क्षेत्र में अदरुनी लोकतंत्र की बहाली और शेयर धारकों के प्रति उसकी जवाबदेही के प्रश्न को ऐसे कानून पूरी तरह हल नहीं कर सकते। यह तभी संभव है जब निजी क्षेत्र को भी सूचना के अधिकार कानून के दायरे में ले आया जाय।

- लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए सुनने में विचित्र लग सकता है, लेकिन निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाने और उसे सूचना के अधिकार की सीमा में ले आने का सवाल सीधे तौर पर लोकतंत्र के भविष्य से भी जुड़ा है। भारतीय लोकतंत्र एक-दूसरे पर अंकुश रखकर सबको सही रखने के बजाय एक-दूसरे को भ्रष्ट करने और फिर भ्रष्टाचार में समान भागीदारी दिलाने का तंत्र बनकर रह गया है। आठवें दशक के आखिर से भारतीय राजनीति में अस्थिरता का जो दौर शुरू हुआ, उसने इस प्रवृत्ति को बढ़ाने का ही काम किया। दरअसल, खंडित जनादेश के चलते सरकार बनाने और गिराने का काम संसद-विधानसभाओं में नहीं, बंद कमरे में होने लगा। सड़क और गलियों से उठकर अब धीरे-धीरे राजनीति बंद कमरे की वस्तु होती जाती जा रही है। बहुमत सिद्ध करने के लिए सांसदों-विधायकों की खरीद-फरोख्त का सिलसिला-सा चल पड़ा है। यहीं नहीं, अब मंत्रिमण्डल जैसी संस्था भी दाव पर लग गयी है। उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और यहां तक की केन्द्र में भी जनादेश की विचित्रता के चलते सरकार बनाने के लिए जरूरी बहुमत जुटाने हेतु एक नहीं बीसियों मंत्री पद कमीशन के तौर पर दिये गये। औद्योगिक घरानों के मालिकान की देखरेख में ही बंद कमरे की राजनीति फल फूल सकती है। आखिर कौन नहीं जानता की सरकार बनाने वाले पार्टियों के नेता खरीद फरोख्त के लिए भारी धनराशि की व्यवस्था इन्हीं घरानों के जरिये करते-कराते है? माना की सारी कंपनियां यह काम नहीं करती, कुछ गिने-चुने घराने ही ये काम करते है। ऐसे में किस कम्पनी ने किस पार्टी या नेता को कब, क्यों और कितनी धनराशि दी-यह जानने का हक आम जनता को क्यों नहीं दिया जाना चाहिए?

राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र का सवाल तर्क-वितर्क की इस समूची शृंखला का एक अनिवार्य पक्ष है। जब उपर्युक्त संदर्भों के मद्देनजर निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाने और उसे

सूचना के अधिकार के दायरे में ले आने की बात की जाती है तो इसका एक सीधा रिश्ता राजनीतिक दलों में पारदर्शिता से भी बनता है। हर कोई जानता और मानता है कि अधिकांश दलों में आंतरिक लोकतंत्र नाम की चीज समाप्त हो गयी है। पार्टियों का सालाना खर्च कितना है? यह किन स्रोतों से आता है? सार्वजनिक तौर पर उनके नेताओं द्वारा दिये गये आय-व्यय के ब्यौरे में कितना सत्य और कितना झूठ का अंश है? यह सब जानने का अधिकार आखिर आम मतदाता और यहां तक कि पार्टी के आम नेता-कार्यकर्ता को क्यों नहीं दिया जाना

चाहिए? एक मोटे अनुमान के मुताबिक राष्ट्रीय और करीब दस क्षेत्रीय दल मिलकर एक लोकसभा आम चुनाव में लगभग चार से पांच हजार करोड़ रुपये की धनराशि खर्च करते हैं। कोई भी नेता निजी हेलीकाप्टर के वगैर अब चुनाव प्रचार नहीं करता। एक नहीं, कोई बीस तो कोई अठारह और कोई दो से लेकर पांच हेलीकाप्टर बीस से तीस दिन के लिए किराये पर पूरी तरह अपने पास रखता हैं। आखिर इसका खर्च कहाँ से आता है? निजी क्षेत्र और राजनीतिक दलों को पारदर्शी बनाये वगैर इसका उत्तर ढूँढ पाना आम जन के लिए असंभव है। इस पारदर्शिता के न होने से संसदीय लोकतंत्र एक खतरनाक मुकाम पर पहुंच चुका है। इसलिए संसदीय लोकतंत्र के नैतिक मूल्यों और मानदण्डों को बचाये रखने के लिए जरूरी है कि निजी क्षेत्र को सूचना के अधिकार के दायरे में ले आया जाय।

रही बात भ्रष्टाचार की, तो निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाये बगैर उस पर रोक लगाना न सिर्फ कठिन है बल्कि नामुमकिन भी है। ऐसा इसलिए क्योंकि राजनेताओं, नौकरशाहों और बड़े व्यवसायियों का त्रिगुट ही भ्रष्टाचार का मूल स्रोत है। अपाधियों की एक बड़ी जमात इन्हीं के संरक्षण में फलती-फूलती है। यह आम निष्कर्ष किसी और का नहीं, भारत सरकार द्वारा बनायी गयी उस एन.एन. वोहरा समिति का है, जिसकी रिपोर्ट के कई अंश आज भी गोपनीय रखे गये हैं। जाहिरा तौर पर इस त्रिगुट का सर्वाधिक महत्वपूर्ण खिलाड़ी निजी क्षेत्र है, क्योंकि उसके पास पूंजी की तालत है। इसलिए निजी क्षेत्र को सूचना के अधिकार के दायरे में लाये बिना सिर्फ सरकारी मशीनरी को पारदर्शी बनाकर सत्ताशीर्ष से भ्रष्टाचार को समाप्त करने का कोई भी अभियान दम तोड़ने के लिए अभिशप्त होगा। क्या यह सच नहीं है कि गत शताब्दी का सबसे बड़ा घोटाला, जिसे इतिहास शेयर घोटाले के नाम से जानता है, मूलतः निजी क्षेत्र के बेताज बादशाहों और सबसे पवित्र माने-जाने वाले बैंकिंग क्षेत्र की आपसी सांठ-गांठ से ही हुआ था?

➤ गैरसरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) में पारदर्शिता के लिए:

निजी क्षेत्र को सूचना के अधिकार के दायरे में ले आने का अर्थ गैर सरकारी क्षेत्र को भी इसके दायरे में ले आना है। निजी क्षेत्र की तरह ही इधर हाल के वर्षों में इस क्षेत्र का भी

जबरदस्त विस्तार हुआ है। आंकड़ों के मुताबिक 1998 तक भारत में गैर सरकारी संगठनों की संख्या पांच लाख से भी ज्यादा हो चुकी थी। भारत सरकार अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र के लिए करीब छह सौ से एक हजार करोड़ रुपये की धनराशि निर्धारित करती है। इसके अलावा इस क्षेत्र में सक्रिय बड़े संगठनों को विदेशों से भारी धनराशि प्राप्त होती है। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में गैर सरकारी संगठनों को मिलने वाले विदेशी धन में भारी इजाफा हुआ है। 1979 में कुल आया विदेशी धन करीब एक सौ करोड़ रुपये था जो 1988 में बढ़कर 685 करोड़ और 1993 में करीब 1600 करोड़ रुपये हो गया। आज इस क्षेत्र को विदेशों से प्रतिवर्ष करीब दो हजार करोड़ रुपये प्राप्त हो रहे हैं। एफ.सी.आर.ए. (फॉरन कांट्रिब्यूशन रेग्यूलेशन एक्ट) के आंकड़े बताते हैं कि 1985 में विदेशी धन प्राप्त करने वाले संगठनों की संख्या मात्र 5100 थी जो 1998 में बढ़कर करीब बीस हजार के आस-पास जा पहुंची हैं।

गैर सरकारी संगठनों में पारदर्शिता और जवाबदेही का सवाल पहली बार 1975-76 में तब उठा था जब श्रीमती गांधी ने देश में आपातकाल लागू किया था। चूंकि उस वक्त तक अधिकांश स्वयंसेवी संगठन गांधी, विनोबा और जयप्रकाश के विचारों की देन थे, लिहाजा इन संगठनों ने श्रीमती गांधी के खिलाफ एक भूमिका भी अदा करनी शुरू कर दी थी। श्रीमती गांधी को यह बात बुरी लगी और ऐसे गैर सरकारी संगठनों पर अंकुश लगाने के लिए ही 1976 में एफ.सी.आर.ए. बनाया गया। 1985 में राजीव गांधी के आने पर इस कानून के प्रावधानों को और सख्त किया गया। उसी समय एक बार फिर इस क्षेत्र की जवाबदेही का सवाल जोर-शोर से उठा। उसी दौरान गैर सरकारी क्षेत्र के एक पुरोधे बंकर राय को राजीव गांधी ने योजना आयोग का सदस्य भी बनाया गया। बंकर राय ने गैर सरकारी संगठनों में पारदर्शिता और जवाबदेही को लेकर कई लेख लिखे। तब से लेकर अब तक यह सवाल आये दिन उठता रहता है।

1995 में यह बहस तब और तेज हो गयी, जब इन संगठनों को सरकारी धन मुहैया कराने वाला भारत सरकार एक संस्थान 'कपार्ट' (काउंसिल फॉर एडवांसमेंट ऑफ पीपुल्स एक्शन एंड रूरल टेक्नोलॉजी) ने खुद स्वीकार किया कि देश में ढेर सारी फर्जी एन.जी.ओ. सक्रिय है। उस समय 'कपार्ट' ने ऐसे 564 गैर सरकारी संगठनों की एक 'काली सूची' भी तैयार की थी। इस 'काली सूची' में सबसे अधिक संख्या बिहार में सक्रिय संगठनों की थी। बिहार के बाद क्रमशः उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल का स्थान था। दुर्भाग्य तो यह था कि जयप्रकाश नारायण द्वारा स्थापित करीब 77 स्वयं सेवी संगठनों का नाम भी इस 'काली सूची' में था। 1998 में 'कपार्ट' ने ऐसी ही एक काली सूची दोबारा जारी की। इस सूची में 248 संगठनों को 'ब्लैकलिस्टेड' किया गया था। उन पर करीब डेढ़ सौ करोड़ रुपये के घोटाले का आरोप था।

इसमें कोई दो राय नहीं कि कई संगठनों में ईमानदार लोगों की भरमार है और ये संगठन सरकार के किसी भी विभाग के मुकाबले ज्यादा सक्षम, प्रभावी और ईमानदारी है। बावजूद इसके इस बात से भी इंकार किया जा सकता कि गैर सरकारी क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार व्याप्त है। चूंकि इस क्षेत्र का तेजी से विस्तार हो रहा है और समाज में इसकी भूमिका भी बढ़ रही है इसलिए पारदर्शी और जवाबदेही बनाने के लिए इस क्षेत्र को भी सूचना के अधिकार के दायरे में ले आना होगा। गैर सरकारी संगठनों के पंजीकरण से लेकर सरकारी-विदेशी धन प्राप्त करने और उनके द्वारा किये जा रहे सभी कार्यों की पूरी प्रक्रिया पर निगरानी रखने का सर्वाधिक कारगर तरीका पारदर्शिता है, जो जानने के अधिकार कानून के जरिये ही संभव हैं।

➤ मीडिया और संचार माध्यमों की जवाबदेही के लिए:

निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाने के लिए चलने वाली बहस का संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यही है क्योंकि सूचना प्रसारित करने के परम्परागत माध्यमों पर अब कॉरपोरेट संस्कृति हावी हो चुकी है। आम भारतीय को मूलतः पत्र-पत्रिकाओं या टेलीविजन के जरिये ही सूचना प्राप्त होती है। दूरदर्शन पर पहले से ही सरकार का कब्जा है। प्रसार भारती लागू होने के बावजूद वह पूरी तरह सरकारी शिकंजे से मुक्त नहीं होने जा रहा है। टी.वी. चैनलों का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है और ये सारे चैनल कॉरपोरेट जगत के नियंत्रण में हैं। इसको समझने के लिए सिर्फ एक उदाहरण ही पर्याप्त है। बहुचर्चित पत्रिका 'एशिया वीक' ने 29 मई 1998 के अंक में एशिया के पचास शक्तिशाली व्यक्तियों की एक सूची प्रकाशित की है। काफी जांच पड़ताल के बाद तैयार की गयी इस सूची में छठा स्थान 'स्टार टीवी' के मुख्य कर्ताधर्ता उन रूपर्त मर्डोक का है, जिन्हें 'मीडिया किंग' से लेकर 'सेटेलाइट किंग' और 'टीवी मुगल' सरीखे नाना प्रकार के विशेषणों से विभूषित किया जाता है। न सिर्फ एशिया, बल्कि विश्व में पिछले एक दशक के दरम्यान जिस एक टीवी चैनल ने अपना दबदबा कायम किया है वह स्टार टीवी ही है। यह कल्पना की जा सकती है कि जिस टीवी चैनल का मालिक बड़े बड़े राष्ट्राध्यक्षों, सैन्य शासकों और औद्योगिक घरानों के रहते हुए एशिया का छठा शक्तिशाली व्यक्ति हो सकता है, वह कितना प्रभावशाली होगा।

कमोबेश यही स्थिति प्रिंट मीडिया की भी है। यह मीडिया भी इस कॉरपोरेट संस्कृति के प्रभाव से मुक्त नहीं है। समाचार पत्र-पत्रिकाओं के मालिकान भी अब देश की सामाजिक-राजनीतिक प्राथमिकताओं की बजाय कॉरपोरेट जगत की जरूरतों से संचालित होने लगे हैं। बड़े औद्योगिक घरानों की सूचना-प्रसार माध्यमों के तकरीबन नब्बे प्रतिशत हिस्से पर इजारेदारी कायम है। इन घरानों का मुख्य व्यवसाय अखबार निकालना या टीवी चैनल चलाना

नहीं, बल्कि अपने दूसरे उत्पादों को कॉर्पोरेट जगत में स्थापित करना है। अखबार या टीवी चैनल का ख्याल उनकी इसी मनःस्थिति की उपज है, न कि किसी प्रतिबद्धता की। ये घराने पाठक या दर्शक तक ऐसी ही सूचनाएं पहुंचाना चाहते हैं, जो उनके अपने हित में हो। इससे निष्पक्षता और विश्वसनीयता की उम्मीद करना रेत पर महल खड़ा करने जैसा है। ऐसे में अब भारतीय जनता के पास सही सूचना हासिल करने का कोई जरिया नहीं रह गया है। मीडिया और संचार माध्यमों पर जिन औद्योगिक घरानों का दबदबा है, उन्हें जवाबदेह बनाने के अलावा फिलहाल कोई रास्ता नहीं दिखायी पड़ता। सरकार द्वारा कानून बनवाकर इन्हें नियंत्रित करने का कोई भी प्रयास एक अघोषित सेंसरशिप को बुलावा देने जैसा होगा। इसलिए समाचार पत्र-पत्रिकाओं और निजी चैनलों पर संतुलित दबाव कायम करने और उसे आम पाठक तथा दर्शक के प्रति जवाबदेह बनाने के लिए भी जरूरी है कि निजी कॉर्पोरेट क्षेत्र को पारदर्शी बनाया जाये और उसे जानने का अधिकार कानून की सीमा में ले आया जायें।

जो लोग निजी क्षेत्र को सूचना के अधिकार के दायरे से बाहर रखने की वकालत करते हैं, उनका मूल तर्क एक ही है। वे कहते हैं कि ऐसा हो जाने पर हर औद्योगिक घराने को ढेर सारी गोपनीय सूचनाएं सार्वजनिक करनी पड़ सकती है जिनके सार्वजनिक होने से उस घराने का समूचा कारोबार ही तहस-नहस हो सकता है। निश्चित रूप से औद्योगिक घरानों को यह अधिकार अवश्य ही दिया जाना चाहिए कि वे ऐसी सूचनाएं गोपनीय रखने के लिए स्वतंत्र हैं, जो उनके कारोबार को तहस-नहस करने की क्षमता रखती है। ठीक उसी तरह जैसे सूचना का अधिकार संबंधी कानून बनाने के बाद भी भारत सरकार उन सूचनाओं को सार्वजनिक नहीं करेगी, जो भारत की एकता-अखंडता को नष्ट करती हो या विदेश नीति पर प्रतिकूल असर डालती हो। राज्य की सुरक्षा संबंधी जानकारियां भी देने के लिए सरकार बाध्य नहीं होगी। आखिर जिन देशों में सूचना का अधिकार कानून बना है या जिन देशों में ऐसा कानून बनाने का प्रयास हो रहा है, वहां की सरकारें अपने कानूनों में ऐसे प्रावधानों की व्यवस्था कर ही रही हैं। खुद भारत में अभी तक जो मॉडल विधेयक तैयार हुए हैं उनमें भी ऐसे प्रतिबंध मौजूद हैं। इसलिए निजी क्षेत्र की ये आशंकाएं निर्मूल हैं। यह सही है कि निजी कंपनियों को इस बात की इज्जत देनी होगी कि वे अपने उत्पादों का फार्मूला गुप्त रख सकें। जिसे वह अपना 'ट्रेड सीक्रेट' मानती हैं, उसे गोपनीय रखने का अधिकार दिया ही जाना चाहिए। अपने उत्पादों को चर्चित बनाने के लिए उनके द्वारा अख्तियार की जाने वाली खास मार्केटिंग रणनीति का खुलासा करने के लिए भी उन पर दबाव नहीं डाला जा सकता। लेकिन उनसे यह तो जानना ही चाहिए कि उनके कारखाने में जहरीली गैस क्यों बनती है? अगर उसे बनाना अनिवार्य है तो फिर उससे बचने का उपाय क्या?

कम्पनियों क्यों ऐसी दवाओं को बेचती हैं जिन्हें प्रतिबंधित कर दिया गया है, कंपनी के आय-व्यय का सही-सही ब्यौरा क्या है? उसे कितने का मुनाफा और कितने की हानि क्यों और कैसे हुई? समाज और श्रमिकों के लिए उसने क्या किया? वह कर अदा करती है या नहीं? शेयरधारकों को वह जरूरी सूचनाएं मुहैया क्यों नहीं कराती? किसी का कारोबार आखिर कैसे 25 रुपये से शुरू होकर दस-बीस हजार करोड़ रुपये तक जा पहुंचा और बीस साल तक उसने क्यों नहीं प्रत्यक्ष निगम कर अदा दिया? आखिर क्यों टाटा जैसे औद्योगिक घराने को प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम उल्फा सरीखे उग्रवादी संगठनों को देनी पड़ी है? ये और ऐसे ही हजारों सवाल हैं जिनका उत्तर सिर्फ और सिर्फ अभी मिल सकता है, जब निजी क्षेत्र को पारदर्शी बनाया जाये और उसे जानने के अधिकार के दायरे में ले आया जायें। अगर भारत सरकार और तंत्र की पारदर्शिता के समर्थक ऐसा नहीं करते तो यही माना जाएगा कि उनके इरादे नेक नहीं हैं।

संदर्भ:-

1. पाण्डेय, अरूण – हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली-2000
2. सूचना का अधिकार- विष्णु राजगढ़िया अरविन्द्र केजारीवाल 2008 प्रेस परिषद द्वारा 1996 में तैयार किन्तु संशोधित मॉडल की धारा 2
3. कृष्ण अय्यर बी.आर – फ्रीडम ऑफ इन्फॉर्मेशन, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ 1990
4. डोनाल्ड सी रोबेट – लॉन ऑन एक्सेस टू ऑफिशियल डाक्यूमेंट्स (लेख) आई.आई.पी.ए. प्रकाशन नई दिल्ली 1980
5. चतुर्वेदी टी.टन. (समा.)- 'सीक्रेसी इन गवर्नमेन्ट्स इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन प्रकाशन, नई दिल्ली 1980
6. रविन्द्र शुक्ला- 'सूचना प्रौद्योगिकी और समाचार-पत्र
7. जयसिंह, इन्दिरा- 'लीगल लेट डाउन भोपाल इनसाइड स्टोरी टी.आर. चौहान भोपाल 1994
8. स्वामी दलीप एस- मल्टीनेशनल कॉर्पोरेशन एण्ड वर्ल्ड इकोनॉमी ए.एल.पी.एस. पब्लिशर्स नई दिल्ली 1980
9. शौरी एच.डी – फ्रीडम ऑफ इन्फॉर्मेशन बिल, 1999 का प्रतिमान विधेयक
10. डॉ. नीरज कुमार – 'जानिए अपना सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, 2008
11. सूची पाण्डे, शेखर सिंह- सूचना का अधिकार कानून 2005 नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया नई दिल्ली 2009
12. बाबेल डॉ. बसन्ती लाल सूचना के अधिकार राजस्थान पत्रिका 3 फरवरी 2001
13. आर. जैन, सूचना का अधिकार- अपेक्षाएं और चुनौतियां (2 वॉल्यूम 9)
14. आर.एस टोलिया, सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 एक व्यवहारिक गाईड केस स्टडी सहित 2009
15. डॉ. आर.के. चौबे, सूचना अधिकार विधि, इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स 2008